

# बापू के जीवन में थी अपार करुणा

आचार्य विनोबा

जैसा बुद्ध का हुआ, वैसा ही गांधी का भी हुआ। गांधीजी में एक अपार करुणा काम कर रही थी। इस करुणा की प्रेरणा के कारण वे सबको निरंतर समझाते रहे। बिल्कुल आखिरी घड़ी तक जो कोई आया, उसकी बात सुनकर वे व्यक्तिगत सलाह देते रहे। परिणाम क्या निकला ? जब तक वे थे, तब तक तो हम काम करते रहे, लेकिन उनके जाने के बाद हम सब बिखर गये। जैसे बुद्ध के बाद उनके शिष्यों में तीव्र मतभेद हो गये, वैसे ही गांधीजी के बाद भी उनके उत्तम-से-उत्तम साथी बिल्कुल एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े हो गये। थोड़े-बहुत मतभेद का होना तो स्वाभाविक है। ऐसे विचारभेद के लिए तो परमात्मा ने अनेक मनुष्यों का निर्माण किया है कि सब मिलकर परिपूर्ण विचार हो। लेकिन मतभेद होना एक बात है, मतविरोध होना भी एक बात है, लेकिन यह तो मतों की लड़ाई चल रही है। स्वामी रामतीर्थ का एक वचन है – **लड़ते हैं वीर मर-मर मुझमें, मुझमें, मुझमें।** इसी तरह लड़ रहे हैं वीर मर-मर गांधीजी में, गांधीजी में, गांधीजी में। हर कोई गांधीजी का नाम लेता है और उनके नाम पर आपस-आपस में लड़ते हैं। ...

बुद्ध के शिष्यों के मतभेद तो फिर भी दार्शनिक थे, दर्शन के क्षेत्र में थे, लेकिन गांधीजी के शिष्यों के मतभेद तो व्यवहार में थे। यहां तो एक नेता यह कहता है कि दूसरे नेता के मार्ग पर देश चला तो सर्वनाश हो जायेगा। नेहरू, सरदार, राजेन्द्रबाबू, राजाजी, कृपलानी, जयप्रकाश, जिन्होंने लगातार वर्षों तक गांधीजी के साथ काम किया, उनमें भी इतने तीव्र मतभेद उपस्थित हो गये! फिर ऊपर से इनमें से हर एक यह दावा भी करे कि मेरी बात गांधीजी के अनुसार ही है! इस तरह गांधीजी का नाम लेकर अत्यंत तीव्र विरोध देश में पैदा हुआ। आज हमारे यहां चिंतन में जो अराजकता, अव्यवस्था मालूम पड़ती है, उसका मूल कारण यही है।

मान लें कि गांधीजी अपना कारुण्य-मोह जरा दूर रखते, या सही में तो परिस्थिति उन्हें कारुण्य-मोह दूर रखने की अनुकूलता देती और वे अपने सब साथियों से कहते कि “भाइयो, प्रत्यक्ष मार्गदर्शन से मैं हट जाता हूँ, तुम सब मिलकर हर मामले पर विचार करो और जो करना हो, एकमत होकर करो, जितने विषयों पर आपसे सर्वसम्मति हो, उतना ही कार्यक्रम लेकर आगे बढ़ो और जिस पर एकमत न हो सके, उसे फिलहाल छोड़ दो” – अंतिम पांच-सात वर्ष वे ऐसा आग्रह रखते, तो क्या परिणाम आता ? उनके साथियों में एकत्र चिंतन करने और एकमत होकर काम करने की कुछ आदत पड़ती और देश को भी लाभ होता।

लेकिन बापू ऐसा न कर सके, क्योंकि उन्हें मौका ही नहीं मिला। अलावा उनमें एक अपार करुणा काम कर रही थी। इसी करुणा के कारण उन्होंने अंत-अंत में भी कांग्रेस और अपने साथियों के साथ रिप्ता बनाये रखने की कोशिश की। आप देखेंगे कि आखिरी दिनों में गांधीजी के साथी उनके खिलाफ गये, तो भी वे उन्हें पकड़े रहे। इसमें उन्होंने सत्य की अपेक्षा करुणा पर बहुत जोर दिया। करुणासक्ति के कारण आखिरी घड़ी में भी वे साथियों के खिलाफ नहीं हुए और उनकी बात (विभाजन) को अपनी सहमति दे दी। अंग्रेजी में एक शब्द है **acquiescence** अर्थात् अमुक वस्तु हो चुकी हो, तो उसमें अपने को सहमत कर देना।

बापू कितनी ही बार कह चुके थे कि हिंदुस्तान-पाकिस्तान दो भाग करना यानी भारत का छेदन करना, जीवित व्यक्ति का छेदन करना है। उन्होंने अंग्रेजी में विविसेक्शन शब्द का उपयोग किया था। फिर भी अंत में उसे अपनी सहमति दे दी। उन्होंने अपना विचार छोड़ दिया था ऐसी बात नहीं, लेकिन उन्होंने सोचा कि इस बात पर आज जोर दूंगा तो मामला बिगड़ जायेगा। इस वास्ते विभाजन स्वीकार कर लिया। यह भी अपनी अपार करुणा के कारण ही।

इस प्रकार आखिर सत्यनिष्ठ मनुष्य करुणानिष्ठ बन गया। सत्य इतना टूटा। बापू के जीवन की यही षोकांतिका है – बाकी गोली लगना कोई बड़ी षोकांतिका नहीं है। जो सत्य था, उसी पर बापू अड़े रहते तो क्या होता, यह आज नहीं कह सकते। तो भी कदाचित् उनकी हत्या हो जाती। लेकिन बापू को लगा कि अब इस स्थिति में मैं विभाजन को मान्य नहीं करूंगा, तो मेरे साथी बेचारे मारे जायेंगे। एक बाजू अंग्रेज सरकार और दूसरी बाजू गांधी, इन दोनों के बीच बेचारे पिस जायेंगे। इस करुणा-दृष्टि से अंत में विभाजन की बात के साथ सहमत हो गये, ऐसा मुझे विचार करने पर लगता है।

खैर, यह सब समझने की जरूरत है। इसे समझेंगे तो पिछले अनुभवों पर से कुछ सीख भी सकेंगे। विचारों की हमेशा छानबीन होती रहनी चाहिए। सभी प्रेरक विचारों का अध्ययन हो। उनमें अविचार, दुर्विचार के जो अंश हों, उनका निवारण किया जाये। इस तरह विचारों का अध्ययन होता रहेगा तो जो सत्य मालूम पड़ रहा है वह मालूम नहीं पड़ेगा।

## विनोबा : 125

### महात्मा यानी विषाल आत्मा

आचार्य विनोबा

महात्मा गांधी ऐसे महापुरुष थे, जिनका सारा जीवन लोगों के लिए ही था। यानी जिनको अपना न कोई स्वार्थ था, न अहंकार। वे केवल दूसरे के दुःख से दुःखी ही नहीं होते थे, बल्कि दूसरे के पाप से अपने को पापी भी मानते थे। यह बहुत बड़ा फर्क है। इसलिए लोग उन्हें महात्मा कहते थे। महात्मा यानी आत्मा इतनी विषाल हो गयी कि हर एक के शरीर के साथ जुड़ गयी।

लोग मानते हैं कि महात्मा दूसरे के दुःख से दुःखी होते हैं किंतु दूसरे के दुःख से दुःखी होना महात्मा का नहीं, मनुष्य का लक्षण है। दूसरे के दुःख से दुःखी होना और सुख से सुखी होना, यह मनुष्य का ही लक्षण है। और ऐसा लक्षण अगर बापू में था तो इसमें उनकी कोई विशेषता नहीं है। उनकी तो यही विशेषता है कि वे सबके पापों से पापी होते थे। अपने ऊपर सबके पापों का आरोप करते थे, सारा बोझ अपने सिर पर लेते थे।

दूसरे के पापों से अपने को पापी मानना और समझना, ऐसा करने वाले बहुत ही बिरले लोग होते हैं। ऐसे लोग मुक्त भी नहीं होना चाहते। ये मोक्ष की परवाह नहीं करते, सबका पाप-पुण्य अपने सिर पर उठाते हैं उन्हें क्या नाम दिया जाये ? वे परम भक्त होते हैं। ऐसे महापुरुष का स्मरण करने से हमें अपनी आत्मा की ताकत का भान होता है। जो ताकत ऐसे महापुरुषों की आत्मा में होती है, वह ताकत हम सबमें आ सकती है। इसका भान ये महापुरुष कराते हैं। खाना, पीना, सामान्य काम हर कोई करता है, पर देह से ऊपर उठने वाले ही सत्पुरुष हो सकते हैं। यह जब देखते हैं तो विश्वास होता है कि हम भी वैसी चेष्टा करें तो हम भी उठ सकते हैं। ऐसे सत्पुरुषों के स्मरण से हमें खुद को लाभ होता है।

जब कोई महापुरुष आता है तो उसका असर सारी हवा में घुलमिल जाता है। किसी एक खास जगह उंगली से छूकर उस असर को नहीं बता सकते। वह तो सब तरफ समाया रहता है। फिर भी ऐसे लोगों का असर इतनी थोड़ी मुद्दत में नहीं नापा जा सकता। और इससे भी कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि इस सदी में जितने जीवन को, कम से कम हिंदुस्तान में गांधीजी ने बदले हैं, उतने और किसी दूसरे ने नहीं।

(मैत्री : अक्टूबर, 2019 से साभार)

विश्व कवि रविन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता

### उस मंदिर में भगवान नहीं

संत ने राजा से कहा :

“तुम्हारे बनवाये उस भव्य मंदिर में  
कोई भगवान नहीं है”

राजा हुआ क्रुद्ध :

“कोई प्रभु नहीं ?

हे सन्त!

क्या तुम किसी नास्तिक जैसी बात नहीं कर रहे ?

अनमोल रत्नजडित सिंहासन पर

स्वर्णम मूर्ति चमक रही है

फिर भी तुम कहते हो प्रभु यहाँ नहीं हैं ?”

कहा सन्त ने :

“हां, यद्यपि खाली नहीं यह मंदिर;

इसमें भरा पड़ा है राजसी दंभ।

इसे बना कर तुमने अपना ही मान बढ़ाया है  
हे राजा!  
संसार के स्वामी का नहीं।”

झुंझलाया था फिर राजा :

“बीस लाख सोने के सिक्के  
लगाए हमने उस महानकृति पर, गगनचुंबी है जो  
और सभी धार्मिक अनुष्ठानों के बाद  
देवताओं को किया समर्पित  
और तुम्हारी यह धृष्टता कि कहो,  
नहीं है इस विराट मंदिर में भगवान”?

षांति से बोला संत :

“राजन उसी साल, जब  
तुम्हारी दो करोड़ प्रजा  
पीड़ित थी भयंकर सूखे से;  
रोटी और छत—विहीन विपन्न—बेहाल लोग  
आए थे तुम्हारे दर पर मांगने सहारा,  
उन्हें मिली बस दुत्कार!  
बाध्य हुए वह ढूँढ़ने को आसरा  
जंगलों, कन्दराओं में,  
राह किनारे पेड़ों के नीचे  
और पुराने खंडहर हुए मंदिरों में;  
राजन फिर उसी साल  
तुमने बीस लाख स्वर्ण मुद्राएं खर्च कर  
बनाया अपना यह मंदिर आलीषान!

वही था दिन जब प्रभु ने कहा :

“मेरा घर तो जगमगाता है  
सदा प्रज्वलित दीपों से,  
नीले गगन के बीच,  
मेरे घर की बुनियादें बनीं हैं मूल्यों से :  
षांति, करुणा, प्रेम और सत्य के तेज से।

प्रभु ने कहा :

वह राजा, निर्धन—निर्बल—कृपण,  
अपनी ही प्रजा को जो दे न सका आश्रय  
क्या वह सच में क्षमता रखता है  
मेरा घर बना सकने की ?”  
यही वह दिन था  
जब त्याग दिया प्रभु ने तुम्हारा वह मंदिर।  
और जा मिले पथ किनारे कंगालों से  
पेड़ों के नीचे।  
विषाल समुद्र के झाग की रिक्तता की तरह  
तुम्हारा मंदिर भी खाली है,  
उस पर तुम्हारा गर्व खोखला है  
बुलबुला है यह मात्र धन और अहम् का।

गरजा था फिर राजा :

“अरे धोखेबाज मूर्ख इंसान,

निकल जा मेरे राज्य से अभी” ।

सन्त ने फिर कहा शांति से :

“वो जगह जहां तुमसे रूठ के हो गए हैं  
निर्वासित मेरे भगवान,  
वहीं भेज दो मुझ भक्त को भी” ।

(अनुवादक : गौरव, प्रस्तुति : जागृति)

(रविन्द्रनाथ ने यह कविता ‘दीन दान’ 120 साल पहले 5 अगस्त को लिखी थी।)

## इस वैश्विक महामारी में महात्मा गांधी होते, तो क्या करते

डॉ. अभय बंग

आज का वैश्विक संकट तिहरा है : कोविड महामारी, गहन व्यापक आर्थिक मंदी तथा मानव अस्तित्व को खतरे में डालने वाला पर्यावरणीय परिवर्तन। इन सबके अलावा ऐसी परिस्थिति में राह दिखाने वाले राजनीतिक व नैतिक नेतृत्व का दुनियाभर में अभाव है। इसलिए उत्तर तो कहीं और ही ढूँढना पड़ेगा। महात्मा गांधी के सामने यह चुनौती खड़ी होती तो उन्होंने क्या किया होता ? इस का जवाब कहाँ खोजा जाए ? यह तो वे खुद कह ही गए हैं – “मेरा जीवन ही मेरा संदेश है” अतः उनके जीवन में ही प्रस्तुत सवालों के उत्तर खोजने होंगे। उनमें कुछ विशेषताएं तो समान होंगी।

**पहली** तो यह कि दूसरों को उपदेश देने की बजाए सबसे पहले वे स्वयं उसका आचरण करते। तभी तो आत्मप्लाघा प्रतीत हो, ऐसा वाक्य – “मेरा जीवन ही मेरा संदेश है” वे बोल पाए ! हम बोल सकते हैं क्या ? बोलकर तो देखिए। जबान लड़खड़ाएगी। **दूसरी**, वे कोई भी कार्य सबसे पहले स्थानीय स्तर पर ही करते। दुनिया बदलने के लिए दुनिया के पीछे नहीं भागते। मिट्टी के कण में पृथ्वी देख सकने वाली दृष्टि थी उनके पास! मैं जहां हूँ वहीं मेरा स्व-देश है। मेरा कार्य यहीं से आरंभ होगा। क्योंकि मैं सिर्फ यही कार्य कर सकता हूँ। **तीसरी**, आरंभ में उनका कार्य मामूली या बचकाना लग सकता है। जैसे मुट्ठी भर नमक उठाना या सूत कातना, लेकिन जरा रुकिए – क्या इससे इतिहास नहीं बदल गया ?

आज आप क्या करते ? ऐसा प्रश्न महात्मा गांधी के समक्ष रखने का ‘विचार-प्रयोग’ मैंने करके देखा और मुझे जो नौ सूत्रीय कार्यक्रम मिले वे हैं :

**1. भय मुक्ति** : आज विषाणु की अपेक्षा विषाणु का भय अधिक पैमाने पर फैला हुआ है। गांधी सबसे पहले हमसे कहते – निर्भय बनो। एक तो डर मनुष्य को षक्तिहीन बनाने वाला घातक भाव है। दूसरे, विषाणु की वजह से होने वाली मृत्यु की संभावना हमारी आबादी में बेहद कम है। अतः इसका हौआ खड़ा करने की जरूरत नहीं। उनका आखिरी तर्क होता – मृत्यु का कैसा भय ? किसे ? शरीर मरा भी तो आत्मा अमर है। तुम शरीर नहीं, आत्मा हो। तुम थोड़े ही मरोगे ? भय काल्पनिक असत्य होने के कारण अपने आप क्षीण होकर लुप्त होने लगेगा।

**2. रुग्ण सेवा** : रोगियों की सेवा गांधीजी की सहज प्रवृत्ति थी। बोअर युद्ध, प्रथम विश्व युद्ध, भारत में महामारियों के दौरान, कुष्ठरोग के शिकार विकलांग परचुरे पास्त्री को अपनी कुटिया के करीब रखकर स्वयं उनकी सुश्रुषा, इसी के उदाहरण हैं। कोरानाग्रस्त रोगियों की देखभाल वे स्वयं करते। ऐसा करते हुए स्वच्छता रखना, हाथ धोना, मुंह पर मास्क जैसे सभी वैज्ञानिक निर्देशों का सटीक पालन करते हुए वे रोगियों की प्रत्यक्ष सेवा करते।

स्वतंत्र होने ही वाले भारत के लिए उचित चिकित्सा पद्धति तथा स्वास्थ्य-व्यवस्था की खोज में गांधी जी पुणे के करीब उरुली कांचन गांव में रहते हुए 1946 में प्रयोग करने लगे। डॉक्टर और दवाइयों के खर्च पर निर्भर रहने की अपेक्षा लोगों के लिए आत्मनिर्भर एवं स्वास्थ्य-स्वातंत्र्य प्रदान करने वाली सस्ती और सहज पद्धति की तलाश में वे थे। आज भी वे वैसी ही पद्धति का प्रयोग करते। शरीर की रोग प्रतिरोधक नैसर्गिक

क्षमता पर गांधीजी भरोसा रखते थे। उसे वे प्राकृतिक चिकित्सा कहते थे।

वे कह रहे होते – प्रकृति को अवकाश दो। वैसे भी कोरोना संसर्ग की चपेट में आए अधिकांश मरीज अपने आप ठीक होते हैं, अतः यह पद्धति उचित ही सिद्ध होती। गंभीर मरीजों को छोड़ें तो आज भी

कोविड बीमारी के लिए यही पद्धति योग्य है। कोविड काल में आज की चिकित्सा व्यवस्था आवश्यक सेवा आपूर्ति में असमर्थ साबित हो रही है। इन हालातों में निरोगी जीवनशैली का गांधीजी का आग्रह, अपना स्वास्थ्य स्वयं संभालने की क्षमता और यथासंभव अपने ग्राम समूह में ही उपचार की सुविधा – ऐसी स्वास्थ्य-व्यवस्था को हम 'आरोग्य-स्वराज्य' कह सकते हैं।

कोविड महामारी का उत्कृष्ट उत्तर है – 'आरोग्य-स्वराज्य'। इसके बावजूद चुने हुए अत्यंत गंभीर मरीजों को उन्होंने अस्पताल भेजा ही होता। व्यसनों के प्रति उनका विरोध तो जगजाहिर है। उनकी व्यसनमुक्त जीवनशैली कोरोना के खिलाफ प्रभावी तदबीर तो होती ही, साथ ही अन्य बीमारियों और मृत्यु-दर में भी कमी लाती।

**3. दूसरी दांडी यात्रा :** कर्तव्यबोध के लिए गांधीजी का दिया जादू का जंतर जग प्रसिद्ध है – 'आज तक तुमने सबसे दुखी, सबसे निर्बल जिस आदमी को देखा है, उसे याद करो!' वह तुम्हारा कर्तव्य है। गांधी होते तो किसका चुनाव करते ? बहुत खोजने की जरूरत नहीं। कोरोना के चलते लादी गई संपूर्ण तालाबंदी की वजह से षहरों के बेरोजगार हो गए श्रमिक, अपने गांवों को लौटने को बाध्य हो गए, जिनके लौटने के साधन तक पासन ने बंद कर दिए, जिसकी वजह से इंसानों के झुंड-के-झुंड हजारों किलोमीटर पैदल चलने को मजबूर हो गए, भूखे-प्यासे, थके, पैदल चलते श्रमिक ये होते गांधीजी के जंतर! गांधीजी होते तो दिल्ली छोड़ इन विस्थापितों के बीच जाते। इन्हें भेजने, दवाई, आसरा देने की व्यवस्था की होती। और इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण, उनका आत्मसम्मान और उम्मीद जीवित रखते। मुझे यकीन है कि विस्थापितों, श्रमिकों के प्रति एकरूपता जताने और सरकार की क्रूर गैर-जिम्मेदारी के विरोध में वे आज विस्थापितों के साथ करते होते दूसरी दांडी यात्रा।

**4. धार्मिक और सामाजिक एकता :** गांधीजी के जीवन का यह अंतिम किंतु अधूरा रह गया कार्य है। भारत के हिंदुओं और मुसलमानों के बीच द्वेष व हिंसा की वजह से उन्हें मर्मांतक पीड़ा हुई। इस वक्त भी, जब कोरोना विषाणु हमारी दहलीज़ में दाखिल हो चुका था, हमारे कई नेता सांप्रदायिकता की आग लगाने में लगे हुए थे। दिल्ली के हिंदू-मुस्लिम दंगों से विभाजन पूर्व भारत के हालात बनते दीख पड़े थे। यह द्वेष इतना अंधा हो चुका है कि भारत में कोरोना प्रसार का ठीकरा एक विषिष्ट धार्मिक पंथ की गलतियों पर फोड़ने का प्रयत्न किया गया। गलती तो सभी ने की। 31 जनवरी को कोरोना भारत में आ चुका था। उसके लगभग एक महीने बाद अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप के भव्य स्वागत के लिए अहमदाबाद में लाखों लोगों की भीड़ जुटाई गई। पर गलतियां निकालते समय धार्मिक भेदभाव किया गया। भारतीय समाज को खंडित करने में ही प्रतिष्ठा का अनुभव किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में गांधी ने क्या किया होता ?

गांधी ने इस समस्या को भी विषाणु जितना ही महत्व दिया होता। सर्वधर्म समभाव तथा उपनिषद की : **ईषावास्थ्यमिदं सर्वम् :** 'ईष्वर सर्वत्र व्याप्त है', यह सच्ची भारतीय निष्ठा उन्होंने अपने प्रत्यक्ष आचरण से व्यक्त की होती। बिना किसी भेदभाव के लोगों की सेवा की होती। एक-दूसरे के मोहल्ले में सेवा करने के लिए लोगों को भेजा होता। प्रार्थना के लिए लोगों को एकजुट किया होता। सैकड़ों टुकड़ों में बिखरे भारतीय समाज को एक जुट समाज बनाने का प्रयत्न किया होता, भले ही इसके फलस्वरूप दूसरी बार हत्या का खतरा उन्हें मोल लेना पड़ता।

**5. मेरा पड़ोसी मेरी जिम्मेदारी :** कोरोना ने आज सभी को अकेला कर दिया है। एक-दूसरे के संपर्क से लोग बच रहे हैं, टाल रहे हैं। संपर्क ही नहीं, तो पड़ोस कैसा ? और पड़ोस ही न हो, तो कैसी सामूहिकता, कैसा समाज ? मुझे तो ऐसा लग रहा है कि गांधी ने मौजूदा शासकीय और मानसिक पाबंदियों को सर्वथा नकार ही दिया होता। पड़ोसी की सेवा करना, यह मेरा धर्म है, ऐसा सत्याग्रह किया होता। उन्होंने कहा होता कि मजबूत स्थानीय संबंधों के अभाव में राष्ट्र-निर्माण संभव नहीं। इस तरह की नैतिक भूमिका के लिए किसी गांधी की ही आवश्यकता होती है। रोग-प्रसार रोकने का पूरा खयाल रखते हुए उन्होंने पड़ोसियों की देखभाल की पुरुआत की होती। तब अनायास भ्रम की चादर हटने लगती। हमें स्पष्ट दिखाई पड़ रहा होता कि महामारी का डर और सरकार की नीतियों से इंसान को इंसान से दूर हटाकर कोरोना का प्रसार तो नहीं थमा, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अस्पृश्य हो गया।

**6. गलतियों का स्वीकार :** कोरोना महामारी का सामना करते हुए सरकार ने अनेक गलतियां कीं। जनवरी-फरवरी में 40 लाख प्रवासियों को हवाई मार्ग से भारत में आने दिया गया, जिनमें से सिर्फ 38000 लोगों का ही कोरोना परीक्षण किया गया। इस वजह से कोरोना भारत में घुसा। इन 40 लाख लोगों के सुव्यवस्थित विलगीकरण की बजाए 134 करोड़ लोगों को तालाबंदी की सजा दी गई। कोरोना के विरुद्ध

इस युद्ध में जागतिक और राष्ट्रीय नेतृत्व ने अपने घोषित उद्देश्य बार-बार बदले – विषाणु का प्रवेश निषिद्ध, फिर कंटेनमेंट, फिर मरीजों की संख्या दुगुनी होने का समय बढ़ाना (डबलिंग टाइम), फिर मृतकों की संख्या सीमित रखना और अब कोरोना के साथ जीना सीखें ... हार गए तो उद्देश्य ही बदल कर जीतने का दावा जारी !

इस नई बीमारी के बारे में समुचित ज्ञान और उपचार न होने से निर्णय लेने में गलतियां होना स्वाभाविक है। किंतु हमारी पद्धति असफल हुई यह प्रामाणिक स्वीकारोक्ति कहां है ? गांधी ने यह सत्य जाहिर किया होता। जनता से सच बोला होता। चौरी-चौरा की घटना की तरह हिमालय जैसे गलती मुझसे हुई है, ऐसी जवाबदेही स्वीकारी होती। और आश्चर्य नहीं कि इस वजह से लोगों का उन पर विश्वास बढ़ा ही होता।

**7. स्थानीय स्वराज :** वुहान में एक विषाणु पैदा हुआ और वैश्विक अर्थव्यवस्था पर फिर से संकट आ गया। महाकाय अर्थव्यवस्था ने दगा दे दिया। गांधी याद दिलाते कि स्थानीय उत्पादन, स्थानीय उपयोग तथा परस्पर संबद्ध स्थानीय लघु समूह, अधिक स्थायी एवं मानवीय व्यवस्था है। इसे वे 'ग्रामस्वराज' कहते थे। परावलंबन आते ही आजादी खतरे में पड़ जाती है। इसी वजह से गांधी ने स्थानीय, यथासंभव स्वयंपूर्ण, अर्थव्यवस्था सुझायी थी।

अर्थव्यवस्था में 'महाकाय' की जगह 'स्थानीय', यदि ऐसा परिवर्तन किया गया होता, तो साथ-ही राजनीतिक व प्रशासनिक सत्ता का भी विकेंद्रीकरण हो जाता। 'ग्लोबलाइजेशन' के युग में सर्वत्र तानाशाही प्रवृत्ति के राजनेताओं का उदय हुआ है। पूंजीवाद और उदारवाद के द्वारा स्वतंत्रता के आश्वासनों के बावजूद इन नेताओं ने जन सामान्य तथा संचार माध्यमों की स्वतंत्रता का हनन करते हुए लोगों को भयग्रस्त कर रखा है। किंतु कोविड महामारी ने जागतिक सत्ता-व्यवस्था और अर्थव्यवस्था पर प्रज्वलित लगा दिया है। कोई भी केंद्रीय सत्ता हमें नहीं बचा सकती। वह सिर्फ झूठे दावे करती है, इसका अहसास हम सभी को हो ही रहा है। गांधी हमें अहिंसक ढंग से, धीमे-धीमे इस महाकाय राक्षसी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था से छोटे-छोटे स्थानीय समूहों की मानवीय व्यवस्था की ओर ले जाते। इस बिना चेहरे वाली वैश्विक अर्थव्यवस्था की बजाए सच्चे रिश्ते पर आधारित सच्चा लोकतंत्र, एक दूसरे को जानने-पहचानने वाले स्थानीय मानव समुदायों के बीच ही फल-फूल सकता है।

**8. आवष्यकता का विवेक :** तब हमारी आवष्यकताएं कैसे पूरी होंगी ? आधुनिक समाज के महोत्पादन के कुछ उपभोक्ता यह जरूर पूछेंगे। गांधी उन्हें समझाते : कभी भी संतुष्ट न होने वाली उपभोग की कामना, आठों पहर ऐंद्रिक उत्तेजना के माध्यम से सुख का छलावा देने वाली भोगेच्छा, यह तुम्हारी स्वाभाविक जरूरत न होकर कृत्रिम ढंग से थोपी गई अप्राकृतिक आदतें हैं। महाकाय उत्पादन व्यवस्था चलाने और बाजार के विस्तार के लिए तुम्हारे उपभोग का विस्तार होते रहना जरूरी है। दअसल, तुम उपभोग नहीं कर रहे, तुम्हारा उपभोग किया जा रहा है। पल भर रुक कर शांति से अपने भीतर झांको। इनमें से कितने उपभोग तुम्हारे तन, मन, बुद्धि को निरोगी व सक्रिय रखने के लिए जरूरी हैं ? और कितनी आदतें नकली हैं ? लोभ के कारण हैं !

गांधी कहते थे, 'यह धरती सभी की जरूरत पूरी करने के लिए काफी है लेकिन लालच के लिए बहुत छोटी है।' जरूरत और लालच के बीच विवेक का सामर्थ्य, सबकी जरूरतें पूरी करने वाली किंतु लालच पर नियंत्रण रखने वाली समाज व्यवस्था व नैतिकता की ओर हमें गांधी ही लेकर जाएंगे। स्वराज्य की व्याख्या ही उन्होंने इस प्रकार की थी – 'स्वतः का राज्य नहीं, स्वतः पर राज्य'।

जब हम विवेक से अपनी जरूरतों पर नियंत्रण करेंगे, तब हमें अहसास होगा कि आधुनिक समाज की अनेक अतियों के बावजूद जीवन आनंदमय हो सकता है। अनावष्यक महोत्पादन और उपभोग, उनको पूरा करने हेतु कारखानों के महाचक्र, पागल-प्रवास और वाहन, ये सब थमने लगेंगे। धूल और धुआं कम होने लगेगा। आकाश और जलाशय फिर से साफ और नीले होने लगेंगे। कोविड काल की तालाबंदी के दौरान इसकी एक झलक हमने देखी ही है। और आश्चर्य, इसी के साथ ग्लोबल वार्मिंग में भी कमी आने लगी।

**9. प्रार्थना :** और अंततः गांधी जो खुद करते और हमें भी सुझाते वह होती – प्रार्थना। प्रत्येक दिन के अंत में, अपना सर्वोत्कृष्ट प्रयास करने के पश्चात थोड़ी देर शांत बैठिए। अंतर्मुख होइए, विनम्र बनिए और षरण जाइए। किसकी षरण ? यह आप की इच्छा पर निर्भर है – ईश्वर, प्रकृति, जीवन, सत्य, काल, जो आप को रुचे, उसकी षरण, कम-से-कम गांधी तो ऐसा ही करते। जो-जो तुमसे संभव था वह सारा प्रयास तुमने किया। अब इसके आगे यह बोझ गधे के भांति ढोने की जरूरत नहीं है। मनुष्य को अपने कर्तृत्व और अपेक्षाओं का निरर्थक व घातक बोझ अपनी पीठ पर से उतार कर स्वतंत्र होना आना चाहिए। गांधी इसे

ही परणागति या प्रार्थना कहते हैं। विष्व के अनंत विस्तार के समक्ष अपने अहंकार और प्रयास की क्षुद्रता को पहचानें। अब उसकी मर्जी चलने दें – यानी अंततः जो हो, उसे स्वीकारें।

गांधी के लौटने की प्रतीक्षा के बजाए, वे आकर जो करते, उसकी पुरुआत हमें कर देनी चाहिए।

(लेखक सामाजिक कार्यकर्ता और जाने-माने चिकित्सक हैं। इन्हें भारत सरकार द्वारा पद्मश्री से नवाजा गया है।)

## जनता की अदालत में देश की विधायिका

कुमार प्रशांत

क्या 70 साल से ज्यादा पुराना भारतीय लोकतंत्र आपको कभी बाजार में गिरने के लिए इस तरह तैयार खड़ा मिला था जिस तरह आज है ? यह हमारा नया लोकतंत्र है। इसमें 'लोक' कहीं है ही नहीं, और सारा 'तंत्र' सरकार का माफिया-गैंग बनकर काम कर रहा है – फिर वह चाहे 'चुनाव आयोग' हो कि 'सीबीआई' कि 'कैंग' कि 'ईडी' कि 'इन्कम टैक्स विभाग' कि कहीं सुदूर में बना कोई पुलिस थाना। सभी जानते, मानते और वही करते हैं जो राजनीतिक आका की मर्जी होती है। सांसदों-विधायकों की यह मंडी कहीं दबा-छुपा कर नहीं चलाई जा रही है। यह एकदम खुली हुई है। तब यह मध्य प्रदेश में लगाई गई थी, और उसके बाद राजस्थान में आजमायी गयी।

ऐसे अंधाधुंध लोकतांत्रिक माहौल में जब सर्वोच्च न्यायालय राजस्थान के संदर्भ में पूछता है कि क्या असंतोष व असहमति की आवाज को अनुषासनहीनता बताकर आप कुचल देंगे, तो जवाब कोई नहीं देता है, लेकिन एक दबी हुई हंसी से माहौल भर उठता है। सवाल भी ऐसा ही है और ऐसे ही तेवर में पूछा भी गया है कि पहली कतार में बैठ कर लोग तालियां बजाएं, बीच की कतार वाले चुप रहें तथा अंतिम कतार वाले पीठ फेर लें। न्याय की सबसे ऊंची कुर्सी पर सबसे आगे बैठे महानुभावों की ऐसी चुप्पी किसने नहीं सुनी है ! चुप्पी और निर्भीक मुखरता के बीच भी एक आवाज होती है जिसे न्याय की बे-आवाज आवाज कहते हैं। वह आवाज हमने अंतिम बार कब सुनी थी ? आपको याद आए तो जरूर बताइएगा।

सरहदें केवल मुल्कों के बीच नहीं होतीं, जिम्मेवारियों के बीच भी होती हैं। भारतीय लोकतंत्र ऐसी ही सरहदों के मेल से बना वह खेल है जिसमें सभी अपने-अपने पाले में आजाद हैं, लेकिन लोकतंत्र के बड़े पाले में सबकी परस्पर निर्भरता है। संविधान के रचनाकारों की कृषलता और दूर दृष्टि हमें हमेशा दंग कर जाती है, जब हम पाते हैं कि एक दरवाजा बंद होते ही वह कई खिड़कियां खोल देता है। खुली खिड़कियों के आगे फिर नये दरवाजे खुलते हैं। अब यह दूसरी बात है कि खुली खिड़कियों की तरफ से देखते वक्त हम आंखें बंद रखें।

जब देश में ऐसी परिस्थितियां बन रही हों जिनका संविधान में जिक्र नहीं है, तब अदालतों के कान खड़े हो जाने चाहिए। जनता अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा-पैसा जोड़कर ऐसे ही वक्त के लिए तो न्यायपालिका को पालती है अन्यथा किसने, किसकी जमीन हड़प ली, किसने किसकी, कब हत्या कर दी, इसके लिए तो हर 'अकबर' के पास उनका अपना 'बीरबल' हुआ ही करता था। अलबत्ता, कोई 'बीरबल' यह तो नहीं बता सकता कि जब कोई विधायिका हमारी संविधान-प्रदत्त नागरिकता छीनना चाहे तब हमें क्या करना चाहिए? संविधान ने यह काम किसी 'बीरबल' को नहीं, न्यायपालिका को सौंपा है।

कमाल यह है कि विधायिका उस संविधान के आदेश से बनी है जिस संविधान को हम नागरिकों ने मिलकर बनाया है और यह विधायिका स्थाई भी नहीं है। उसकी आयु अधिक-से-अधिक पांच साल तय कर दी गई है। इधर नागरिकता की खूबसूरती यह है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर यह न किसी की कृपा से मिलती है, न किसी के क्रोध से छीनी जा सकती है। उस नागरिकता को वह विधायिका छीनने की कोषिष कर रही है जिसको ऐसा करने का कोई अधिकार ही नहीं है। क्या न्यायपालिका को इसका संज्ञान नहीं लेना चाहिए ? न्याय की देवी की आंखों पर पट्टी बंधी होती है, इस अवधारणा को समझ कर ही हमारे संविधान ने हमारी न्यायपालिका की आंखों पर से पट्टी हटा दी। हमारी न्यायपालिका न केवल बोल सकती है, बल्कि देख भी सकती है। वह खुद संज्ञान लेकर विधायिका या कार्यपालिका या जन-जीवन के किसी भी घटक को कठघरे में बुला सकती है, बुलाती रही है फिर उसने नागरिकता के सवाल पर सरकार को कठघरे में क्यों नहीं बुलाया, जबकि सारा देश नागरिकों के आंदोलन से आप्लावित हो रहा था ?

उसने उस पुलिस को कठघरे में क्यों नहीं बुलाया जो नागरिकता के आंदोलन में लगे युवाओं को नाना प्रकार के आरोपों में घेरने वाली फर्जी एफआइआर जारी कर रही है ? उसने सरकार से क्यों नहीं पूछा कि

भीमा-कोरेगांव मामले में जिनकी गिरफ्तारियां हुई हैं, उन्हें वैसी किसी धारा में कैसे गिरफ्तार किया गया जिसमें बगैर सुनवाई के उन्हें देशद्रोही करार दिया जा सके ? उन पर जो आरोप हैं वही इस बात की मांग करता है कि उसकी तुरंत सुनवाई हो, गहरी छानबीन हो और फिर संवैधानिक आधार पर तय किया जाय कि उन्हें किस धारा में गिरफ्तार किया जा सकता है या कि उन्हें गिरफ्तार करने का आधार बनता भी है या नहीं ? बल्कि मैं, संविधान बनाने वाले नागरिकों का एक प्रतिनिधि, न्यायपालिका से पूछना चाहता हूं कि विधायिका ऐसा कोई कानून बना ही कैसे सकी जिसकी जांच-परख अदालत नहीं कर सकती है ? यह तो संविधान की व्यवस्था को ही धता बताना हुआ। ऐसा कानून बन गया और न्यायपालिका ने उसका संज्ञान भी नहीं लिया? विधायिका को कठघरे में नहीं बुलाया तो यह वह संवैधानिक अपराध है जिसकी सजा न्यायपालिका को मिलनी चाहिए।

न्यायपालिका भी नागरिकों द्वारा बनाए संविधान द्वारा बनाई वह व्यवस्था है जिसे संविधान के संरक्षण की जिम्मेवारी दी गई है और उसने षपथपूर्वक उस जिम्मेवारी को स्वीकार किया है। न्यायपालिका जब अपने कर्तव्य से च्युत होती है तब उसे भी जनता की अदालत के कठघरे में खड़ा होना पड़ता है।  
(सप्रेस)

### कुमार प्रशांत अस्वस्थ

गांधी शांति प्रतिष्ठान के अध्यक्ष, जाने-माने पत्रकार और गांधी-विचार के अध्येता कुमार प्रशांत को गत 9 अगस्त को दिल का दौरा पड़ा था। उन्हें जसलोक अस्पताल में भर्ती कराया गया था, दो-तीन दिनों के बाद उन्हें अस्पताल से छुट्टी मिली और घर आये। लेकिन कुछ दिन बाद फिर परेषानी हुई तो पुनः अस्पताल लाये गये। इस बार कोरोना टेस्ट में पॉजिटिव निकला। पहले निगेटिव आया था।

जसलोक अस्पताल वही है, जहाँ लोकनायक जयप्रकाश नारायण का इलाज हुआ था। संयोग से उनका इलाज करने वाले डॉक्टर मेहता और उनके सहयोगी डॉक्टर अजीत देसाई की देख-रेख में ही कुमार प्रशांत का भी इलाज चल रहा था।

अब 2 सितम्बर, 2020 को उन्हें अस्पताल से घर लाया गया है। कोरोना के चलते घर में ही एकांतवास चल रहा है। धीरे-धीरे स्वास्थ्य में सुधार हो रहा है। लेकिन अभी कमजोरी बहुत है।

कोरोना निगेटिव आने के बाद हृदय रोग की चिकित्सा-प्रक्रिया शुरू की जायेगी, ऐसा डॉक्टरों का कहना है।

हम ईश्वर से उनके शीघ्र पूर्ण स्वस्थ होने की प्रार्थना करते हैं।

— सं.

### 6 अगस्त : हिरोषिमा दिवस

## परमाणु बम : आत्म-रक्षण का नहीं, विनाश का अस्त्र

नारायण देसाई

परमाणु अस्त्र आम अर्थों में अस्त्र हैं ही नहीं। वे तो पूरी मानव जाति के संहार के साधन हैं। मामूली बम से अगर एक साथ सैकड़ों लोग मर सकते हैं, तो परमाणु बम से लाखों या करोड़ों तक मर सकते हैं।  
हिरोषिमा में

जब पहला अणुबम गिरा तब उससे एक लाख चालीस हजार लोग तत्काल मरे थे। हिरोषिमा की जनसंख्या तब चार लाख थी। उस शहर की एक तिहाई से अधिक जनता तो तत्काल मरी थी, लेकिन जो बचे थे, उनके हाल मरनेवालों से भी बदतर थे। रेडियोधर्मिता के कारण होने वाले नाना प्रकार के रोगों से वे पीड़ित हुए और आज बम गिरने के वर्षों बाद भी वहां लोग उसी कारण मर रहे हैं। जो उस समय जन्मे भी नहीं थे, वे भी रेडियोधर्मिता जनित रोगों से पीड़ित हुए। साल 1998 तक हिरोषिमा में परमाणु बम के प्रत्यक्ष या परोक्ष कारण से दो लाख, दो हजार एक सौ ग्यारह लोग मर चुके थे। शहर के 76,000 मकानों में से 70,000 बम के फटने से ही नष्ट हुए थे। उससे लगी आग का असर मीलों दूर तक हुआ था। उस आग से जगह-जगह अग्नि-आंधियां आयीं। उसमें से बचने के लिए भागती हुई महिलाओं के हाथों से नन्हें बालक आग की लपटों में खिंचा गए थे।



आज जो परमाणु षस्त्र बने हैं, उनके आगे हिरोषिमा और नागासाकी पर डाले गए ये बम खिलौने-से मालूम होते हैं। आजकल के बम उनसे सैकड़ों गुना और कुछ तो हजारों गुना विध्वंसक हैं। परमाणु युद्ध आत्मघाती होते हैं। उन युद्धों से दोनों पक्षों की क्षति होती है। जीत किसी की नहीं, हार दोनों पक्षों की होती है। कराची पर गर हाइड्रोजन बम डाला जाए तो उससे सौराष्ट्र, गुजरात और मुंबई तक विनाश हो सकता है। दिल्ली पर बम डाला जाए तो लाहौर, रावलपिंडी और इस्लामाबाद तक बर्बाद हो सकते हैं। परमाणु षस्त्र आत्मरक्षण के नहीं, केवल विनाश के षस्त्र हैं।

परमाणु षस्त्रों के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि उससे भयभीत होकर प्रतिपक्षी हम पर वार नहीं करता। वह आतंक द्वारा आक्रमण रोकने वाला 'डिटरेंट' (निवारक) है। मगर 'डिटरेंट' की रणनीति भी समझदारी वाली रणनीति नहीं है। 'डिटरेंट' से दोनों पक्ष लगातार भय में रहते हैं और सामने वाले से पहले खुद आक्रमण करने को तत्पर रहते हैं। 'डिटरेंट' में लगातार प्रतिपक्षी से आगे रहना पड़ता है, इसलिए दोनों पक्ष एक-दूसरे से अधिक गति वाले या ज्यादा बरबादी करने वाले षस्त्र बनाते रहते हैं। उत्तरोत्तर अधिक विनाशकारी षस्त्रों से सज्जित रहने की यह होड़ निरंतर जारी रहती है। इससे अगर प्रत्यक्ष युद्ध न हो, तो भी षस्त्र भंडार के खर्च से देश दब जाता है। सोवियत संघ जैसा षक्तिशाली देश भी अणु-षस्त्रों की होड़ के खर्च के आर्थिक बोझ के कारण टूट गया था। इस होड़ में दुष्मन अगर पहले हमला करे तो उससे बचकर दूसरा वार करने के लिए पनडुब्बियां वगैरह की व्यवस्था रखनी पड़ती है, ताकि जवाब में दूसरा वार, सेकेंड स्ट्राइक की जा सके। इस सारी तैयारी में भी भयंकर खर्च करना पड़ता है। अमरीका अपनी ऐसी ही तैयारियों में लाखों करोड़ डॉलर खर्च कर चुका है।

अगर भारत-पाकिस्तान की होड़ में पाकिस्तान टूट गया तो उसका क्या परिणाम होगा, इसका भी विचार कर लेना चाहिए। यह जरूरी नहीं कि पाकिस्तान की सरकार के टूटने से वहां आपकी सरकार हो जाएगी। ज्यादा संभव तो यह है कि वहां विधिवत चुनी हुई सरकार की जगह युद्धखोर हाकिम या निरे लुटेरे ले लें। क्या ऐसे लोगों का शासन पड़ोस में हो तो उसका दुष्परिणाम सीमा के इस पार नहीं होगा ? षस्त्र दौड़ में दुर्घटना की संभावना बहुत बढ़ जाती है। अगर हमारे पास ऐसे अणु-षस्त्र न हों जो केवल हमारी इच्छा होने पर फेंके जाएं तो ऐसी व्यवस्था के बिना बगैर ताला-व्यवस्था के षस्त्रों में दुर्घटना की संभावना और भी बढ़ जाती है। अमरीका और सोवियत संघ के पास ऐसे स्व नियंत्रित बम थे, लेकिन षाउन ग्रेगरी के अनुसार वहां सैकड़ों ऐसी दुर्घटनाएं हुई थीं, जिनका परमाणु हथियारों से संबंध था। यह तो मानवता का भाग्य ही था कि जिसकी वजह से उन दुर्घटनाओं के परिणामस्वरूप परमाणु युद्ध नहीं छिड़ा और मानवता महासंहार से बच गयी।

परमाणु सत्ता बनने के लिए केवल परमाणु बम पास में होना काफी नहीं है। इसके लिए परमाणु षस्त्रों से पैदा होने वाले खतरे को ध्यान में रखकर खास तरह की व्यापक एवं जटिल व्यवस्था करनी पड़ती है। दुष्मन की गतिविधियों को समय से जान लेने के लिए निगरानी की व्यवस्था, उपग्रह उड़ाने, रेडार व्यवस्था, त्वरित आगाडी की व्यवस्था, अर्ली वार्निंग सिस्टम, इत्यादि कई निहायत खर्चीली व्यवस्थाएं भी रखनी पड़ती हैं। 'डिटरेंट' की आज की व्यवस्था कल पुरानी पड़ जाती है। इसलिए उसे निरंतर बढ़ाते रहना पड़ता है। उसका खर्च भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है।

भारत और पाकिस्तान की सीमाएं रूस और अमरीका की सीमाओं की तरह दूर-दूर नहीं हैं इसलिए सामने वाले के प्रेक्षपात्र मिसाइल टूटने के बाद इधर वाले को निर्णय करने के लिए जो समय मिल सकता है, वह भी भारत या पाकिस्तान को नहीं मिल सकता। दोनों देशों के नेतृत्व में भी कुछ ऐसे तत्व हैं जो प्रजा के विनाश का विचार करने की अपेक्षा पहला वार करने की फिफ्र में किसी भी समय युद्ध छेड़ सकते हैं।

एक गलत प्रचार यह किया जाता है कि परमाणु अस्त्र पास होने से पारंपरिक षस्त्रों का खर्च कम होगा। किसी भी परमाणु सत्ता का यह अनुभव नहीं है। वहां परमाणु षस्त्रों के साथ अन्य सामरिक सामग्री का खर्च घटा नहीं है। दूसरे विष्वयुद्ध में 1945 के अणुबम गिराने के बाद दुनिया भर में जो सैकड़ों युद्ध हुए हैं उनमें पारंपरिक षस्त्र ही इस्तेमाल किए गए हैं। जहां-जहां भी परमाणु सत्ताओं के सामने पारंपरिक षस्त्र वाले देश खड़े हुए हैं वहां अक्सर जीत उन्हीं की हुई है, परमाणु सत्ताओं की नहीं। उदाहरण के लिए अमरीका-वियतनाम, रूस-अफगानिस्तान, चीन-वियतनाम, इंग्लैण्ड-ईजिप्ट आदि के बीच के युद्ध। इस प्रकार अनेक कारणों से परमाणु षस्त्रों से लाखों करोड़ों को मौत से बचाना हो तो उसका एक ही उपाय है, परमाणु दौड़ को तुरंत बंद करना चाहिए।

(सप्रेस)

## मंत्री की कलम से

महात्मा गांधीजी ने कहा था, “ग्रामोद्योग का यदि लोप हो गया, तो भारत के सात लाख गांवों का सर्वनाश ही समझिये”। आज स्थिति बिलकुल स्पष्ट है, हम सर्वनाश कर चुके हैं। हाल ही में 27 जुलाई, 2020 को भारत सरकार द्वारा अखिल भारतीय हाथ करघा बोर्ड को समाप्त किया जाना इस सर्वनाश की गति को और तेज कर देना है। हस्त शिल्प बोर्ड भी समाप्त कर दिया गया और लगभग साढ़े तीन करोड़ (3.5) लोग भारत में हाथ करघा और हस्तकला से अपनी रोजी-रोटी कमाते थे, आज ये सब संकट में हैं, भुखमरी की हालत में हैं। स्वतंत्रता आन्दोलन में महात्मा गांधीजी ने चरखा द्वारा स्वावलम्बन और सत्याग्रह के साथ जनता को जोड़ा, भारत के पारम्परिक ज्ञान, हुनर की विरासत के जरिये आर्थिक स्वतंत्रता की राह दिखायी, पर अब तो स्वदेशी-स्वावलम्बन की अवधारणा ही बदलती जा रही है। सरकार स्वयं अपने नीतिगत फैसले से हाथ से काम करने वाले भारतीयों की रोजी-रोटी छीन रही है। कोरोना काल में तथा पिछले कुछ वर्षों में जब आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर हुई है। और बेरोजगारों की संख्या करोड़ों-करोड़ों में तब्दील हो गयी है, ठीक उसी समय गांवों के ग्रामोद्योगों का जो सहारा था, उस पर हाथ करघा बोर्ड को समाप्त कर कुठाराघात किया गया। वह अमानवीय है। सरकार द्वारा एक के बाद एक ऐसी प्रतिष्ठित संस्थाओं को समाप्त किया जा रहा है।

भारत में हस्तकला और हाथ करघा का भव्य इतिहास रहा है। आज वह सब संकट में हैं। गुजरात में अजरक, पाटन के पटोला, मषरु, खामीर, आंध्र/तेलंगाणा में पोचमपोल्ली, मंगलगिरि, तिलगाणा-मछलीपट्टनम, छत्तीसगढ़-जांजगीर, बस्तर-जगदलपुर, महाराष्ट्र-पेठनी, यवला भंडारा, बंगाल में, टंगाईल, शांतिपुरी, जामदानी, बेगमपुरी उ. प्र. में बनारसी, तमिलनाडु में कांजीवरम, राजस्थान में जयपुर, सांगनेर, बगरु, म. प्र. में चंदेरी माहेष्वरी, पंजाब में वाग, फुलकारी में, जम्मू-कश्मीर में पषमीना, उड़ीसा में संबलपुरी, आन्ध्र में कलमकारी, कर्नाटक-मैसूर सिल्क, कसुती, असम में मूंगा आदि प्रसिद्ध हैं। लगभग भारत के हर क्षेत्र ने अपने हुनर से इस देश को समृद्ध किया है। पर अब धीरे-धीरे कपड़ा उद्योग पूरी तरह से बड़े पूंजीपतियों के हाथों में होगा। वैसे भी बुनकरों की हालत इस समय नाजुक है, आत्महत्या की घटनाएँ भी घट रही हैं। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के विकास में अखिल भारतीय खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड, लघु उद्योग आयोग और बोर्ड, हस्तकारी उद्योग बोर्ड और हाथकरघा बोर्ड का योगदान अब इतिहास के पन्नों में ही रह जायेगा। ग्राम, स्थानीय और क्षेत्रीय नियोजन और विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था की अवधारणा को जोरदार चोट पहुंची है। विकेन्द्रित उद्योगों के संरक्षण तथा विकास के लिए आवश्यक राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ बनाने में वर्तमान सरकार निष्फल रही है। शहरों और गांवों के बीच का वर्तमान भेद अब और ज्यादा बढ़ेगा, अतः दोनों के बीच स्वस्थ, परस्परश्रित और षोषणहीन संबंध स्थापित करने का प्रयास जरूरी है।

### गांव, मजदूर और पर्यावरण : गांधीयन कलेक्टिव इंडिया

गांव, गरीब, पर्यावरण संरक्षण के विषयों को लेकर व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रारंभ 5 जून - 'विष्व पर्यावरण दिवस' - पर प्रारम्भ हुआ था चम्पारण से। सत्याग्रह की यह श्रृंखला 2 अक्टूबर गांधी-जयंती तक जारी रहेगी। उपवास सत्याग्रह का मकसद श्रमिकों, किसानों, ग्रामीण अर्थव्यवस्था और पर्यावरण को बचाने के लिए समाज और स्वयं को सक्रिय करना है। इस सत्याग्रह का उद्देश्य देश की मौजूदा राजनीति में अंतिम जन को केन्द्र में लाना और गांधीजी की 150वीं जयंती वर्ष पर उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए देश और दुनिया में फैले गांधी-प्रेमियों को एक मंच प्रदान करना है। इस उपवास श्रृंखला में गांधी स्मारक निधि (केन्द्रीय) की ट्रस्टी जया मित्रा, 15 जून-बंगाल में, ट्रस्टी आषा बोथरा, 10 जुलाई-जयपुर में, ट्रस्टी षोभा सुपेकर, 24 जुलाई-पुणे में, अमरनाथ भाई, 11 अगस्त-वाराणसी में, वरिष्ठ ट्रस्टी सुश्री राधा भट्ट, 15 अगस्त-कौसानी में और 15 अगस्त के ही दिन मैं भी छतरपुर में अपने 25 साथियों के साथ उपवास पर बैठा। हमारे समर्थन में देश के अलावा अलग-अलग स्थानों पर 28 लोग और उपवास सत्याग्रह में शामिल हुए। लॉक लाडन में मजदूर, ग्रामीण, किसान की दुर्दशा अब मीडिया से भी गायब है, हालत दिन-प्रतिदिन गंभीर होती जा रही है, भूख और बेरोजगारी से पीड़ित होकर लोग जान भी गंवा रहे हैं। ऐसे समय में समाज, सरकार के दिलों में गरीब, मजदूर, किसान -ग्रामीणों के लिए करुणा जागृत करने हेतु लगातार समाजकर्मी, लेखक, पत्रकार, पर्यावरणवादी, छात्र, कलाकार उपवास सत्याग्रह में शामिल हो रहे हैं।

इसी दौरान मुझे म. प्र. में ग्रामीण क्षेत्रों में बुनकर किसानों के घर तक पहुंचने का मौका मिला। स्थिति को घिन्न संभालने का प्रयास किया जाना चाहिये। सरकार की उदासीनता कहीं भारत के गांव और ग्रामीणों को बर्बाद न कर दे।

## संस्थाकुल के ग्राहकों, वाचकों एवं कार्यकर्ता मित्रों से

कोरोना जनित तालाबंदी में भारतीय डाक सेवा ने पत्र-पत्रिकाओं की रवानगी बंद कर रखी है। पिछला सयुक्तांक (1-4) हमें बुक पोस्ट से भेजना पड़ा था, जो काफी महंगा पड़ा था। अतः डाकसेवा बहाल होने तक हम संस्थाकुल इंटरनेट द्वारा ही प्रेषित-प्रसारित कर रहे हैं। कष्ट के लिए क्षमा करें।  
— प्रकाशक

## बिमल चद्र पाल का देहावसान

वरिष्ठ सर्वोदयकर्मी, गांधी शांति प्रतिष्ठान, पं. बंगाल के अध्यक्ष, श्री बिमल चन्द्र पाल का गत् 4 अगस्त, 2020 को उनके आश्रम श्रम विद्यापीठ, मेदिनापुर (पं. बंगाल) में निधन हो गया। वे अपने सेवामय जीवन के 88 वर्ष पूरे कर चुके थे।

श्री बिमल चन्द्र पाल भूदान-ग्रामदान आन्दोलन में सक्रिय रहे थे। स्व. धीरेन्द्र मजूमदार द्वारा स्थापित श्रमभारती, खादीग्राम में नयी तालीम के शिक्षक रहे और कुछ समय तक सर्व सेवा संघ के मंत्री का भी दायित्व निभाया था।

उनके निधन से विषाल गांधी-परिवार में जो रिक्तता पैदा हुई है, उसका भरा जाना मुष्किल होगा। हम भरे दिल से बिमलदा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि एवं उनके परिवारजनों के प्रति संवेदना व्यक्त करते हैं ? ईश्वर उनकी आत्मा को चिर-षान्ति प्रदान करे और परिवारजनों को यह शोक सहन करने की शक्ति दे। —सं

अखबारी कतरन

## अर्थ और अनर्थ के बीच अहिंसक तर्क

प्रेम प्रकाश

ब्रिटेन के वित्त मंत्री, ऋषि सुनक अपने जिस फैसले के तहत अभी चर्चा में हैं, वह मुद्रा पर महात्मा गांधी को अंकित करने का है। अलबत्ता अभी यह कहना थोड़ी जल्दबाजी होगी कि इससे आगे क्या वे उस समझ को भी अपनी नीतियों में शामिल करेंगे जो गांधी की वित्तीय अवधारणा या स्वावलंबन के विकेंद्रित सिद्धांत से जुड़ी हैं।

गौरतलब है कि गांधी-विचार और कार्यक्रमों में उन तमाम चिंताओं और समस्याओं का वैकल्पिक समाधान है, जिस पर आज दुनिया के तमाम देश अलग-अलग स्वर में बात कर रहे हैं। इन समस्याओं में सबसे अहम दो मुद्दे हैं — पर्यावरण और विकास के बीच का संतुलन और अर्थव्यवस्था से जुड़े अहिंसक तकाजे। वे मुद्दे और तकाजे उस गांधी ने हमारे सामने रखे हैं जिन्होंने अपने समय में न सिर्फ जंग की झुलस के बीच मानवता की कराह सुनी थी, बल्कि अकाल और स्पेनिश बुखार जैसी स्थितियों में देश की बड़ी आबादी को मौत की नींद सोते देखा था। यह बात अब हर तरफ दोहराई जा रही है कि कोविड संकट के बाद दुनिया जैसे और जिस रूप में भी बचेगी, उसके लिए अर्थव्यवस्था और विकास की आपाधापी में पर्यावरण के साथ मानवीय रिश्ते को नए सिरे से समझने की बड़ी चुनौती होगी। गौरतलब है कि औद्योगिक क्रांति से लेकर वैश्वीकरण तक दुनिया अगर कहीं एक सीध में बढ़ती दिखाई देती है तो वह सीध है मशीनीकरण और शहरीकरण की। कोरोना संकट के बीच आज उन शहरों की राषन-पानी की पूरी व्यवस्था सबसे ज्यादा चरमरा रही है, जिन्होंने अनजाने ही परावलंबन की मोहताजी को अपने ड्राइंग रूम और रसोई तक आमंत्रित कर लिया।

1914 में वतन वापसी पर गांधी ने अपने आप को तत्काल गांवों की सामाजिक व आर्थिक स्थितियों का प्रत्यक्ष परिचय पाने में लगा दिया। 'यंग इंडिया' में 20 दिसंबर, 1929 को वे लिखते हैं, 'ईश्वर न करे कि भारत भी कभी पश्चिमी देशों के ढंग का औद्योगिक देश बने। एक अकेले इतने छोटे से द्वीप (इंग्लैंड) का

आर्थिक साम्राज्यवाद ही आज संसार को गुलाम बनाए हुए है। 30 करोड़ आबादी वाला हमारा राष्ट्र भी अगर इसी प्रकार के आर्थिक षोषण में जुट गया तो वह सारे संसार पर एक टिड्डी दल की भांति छाकर उसे तबाह कर देगा।'

गांधीवादी अर्थदृष्टि को तार्किक आधार देने वाले डॉ. जे.सी. कुमारप्पा ने मषीनीकरण के जोर पर बड़े षोषण की जगह सहयोग और उपभोग की जगह जरूरी आवश्यकता को मनुष्य के विकास और कल्याण की सबसे बड़ी कसौटी माना। सहयोग और आवश्यकता की इस कसौटी से स्वावलंबी आर्थिक स्थायित्व को तो पाया ही जा सकता है, प्राकृतिक असंतुलन जैसे खतरे से भी बचा जा सकता है। कहने की जरूरत नहीं कि विकास की होड़ की जगह सहयोग के रूप में देखने वाली गांधीवादी दृष्टि विकास और जीवन मूल्यों को अलगाकर नहीं बल्कि साथ-साथ देखती है। कुमारप्पा अपनी किताब 'द इकोनमी ऑफ परमानेंस' के पहले अध्याय में ही, इस मिथ को तोड़ते हैं कि अर्थ और विकास कभी स्थायी हो ही नहीं सकते। औद्योगिक क्रांति से लेकर उदारीकरण तक का अब तक का हमारा अनुभव यही सिखाता रहा है कि विकास की दरकार और उसके मानदंड बदलते रहते हैं। इसी लिहाज से सरकार और समाज भी अर्थ और विकास को लेकर अपनी प्राथमिकताओं में हेरफेर भी करते रहते हैं पर इस बदलाव का अंतिम लक्ष्य क्या है, इसे लेकर कोई गंभीर सोच कभी नहीं उभरी।

*(जनसत्ता : 6 अगस्त, 2020 से साभार)*